कृषि संकट : कुछ आयाम

लाल सलाम के अंक **10** (जनवरी **2005**) में 'वर्तमान कृषि संकट' नामक लेख में भारत में गहराते कृषि संकट का विश्लेषण किया गया था। उस लेख में पूंजीवाद में कृषि की गति के बारे में आम मार्क्सवादी सिद्धान्तों और भारत में पूंजीवादी विकास की सामान्य गति की रोशनी में भारत के कृषि संकट को समझने–समझाने का प्रयास किया गया था।

भारत की खेती का यह संकट अभी जारी है। इसके भांति–भांति के आयाम मुखर हो रहे हैं। प्रस्तुत लेख में हम इस संकट के कुछ विशिष्ट पहलुओं को रेखांकित करते हुए भारत के पूंजीपति वर्ग और उसकी आम दिशा से उसके संबंध को परिभाषित करने का प्रयास करेंगे।

I
कृषि संकट की अभिव्यक्तियां

भारत का वर्तमान कृषि संकट मुख्यतः दो रूपों में मुखर ढंग से अभिव्यक्त हो रहा है। एक, गिरती वृद्धि दर में और दो, इस पर निर्भर आबादी की तेजी से बढ़ती बदहाली में।

पूंजीवाद में आम तौर पर पूंजीवादी विकास की यह सामान्य गति होती है कि इसमें उद्योग के मुकाबले कृषि पिछड़ती जाती है और उस पर निर्भर आबादी तबाह होकर उद्योग या सेवा क्षेत्रा में स्थानांतरित हो जाती है। उद्योग में निरंतर तकनीक और कुशलता का विकास होता है और समय–समय पर आने वाले आवर्ती संकटों के बावजूद बल्कि उसके साथ औद्यौगिक क्षेत्रा में तेजी से विकास होता जाता है। लेकिन विभिन्न वजहों से कृषि में ऐसा नहीं होता। इसीलिए कृषि उद्योग के मुकाबले पिछड़ती जाती है। उस पर यह भी कि उद्योग कृषि का शोषण करता है।

इसी के साथ यह भी होता है कि खेती में पूंजीवादी विकास के फलस्वरूप किसान आबादी में विभेदीकरण बढ़ता है। छोटे–मझोले किसान तबाह हो जाते हैं। तबाह हुए किसान सर्वहारा की पांतों में ढकेल दिये जाते हैं और उन्हें उद्योग और सेवा क्षेत्रा में पलायन करना पड़ता है। इस तरह खेती पर निर्भर आबादी निरंतर कम होती चली जाती है। समय के साथ कुल पूंजीवादी उत्पादन में खेती का हिस्सा (उत्पादन में हिस्सा और श्रम शक्ति में हिस्सा) लगातार घटता चला जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में यह आज दोनों मामलों में पांच प्रतिशत से कम है।

यदि भारत में ऐसा हो रहा होता तो इसमें कुछ भी विशिष्ट नहीं होता। तब यह पूंजीवादी विकास की सामान्य गति का हिस्सा होता। लेकिन भारत में इस समय जो हो रहा है वह इस सामान्य गति से कुछ विशिष्ट भी है और इस सामान्य गति में जटिलता पैदा कर रहा है। निश्चित तौर पर यह विशिष्टता और जटिलता भारत के पूंजीपति वर्ग की स्थिति तथा वर्तमान वैश्विक पूंजीवाद से जुड़ी हुयी है।

भारत की कृषि की आज केवल यही गति नहीं है कि वह उद्योग व सेवा क्षेत्रा के मुकाबले पिछड़ रही है और उद्योग उसका शोषण कर रहा है। उसके साथ उसकी गति यह भी है कि पिछले दो दशकों में वह अपनी पहले की वृद्धि दर के मुकाबले भी पिछड़ रही है। इसमें मामला तब और गंभीर हो जाता है जब खेती में लगातार कंगालीकरण के बावजूद उस पर निर्भर आबादी में तेजी से कमी नहीं हो रही है। इसी का एक आयाम यह है कि गरीब, छोटे–मझोले किसान बुरी तरह ऋण जाल में फंसे रहे हैं और इनमें से कुछ आत्महत्या के लिए मजबूर हो रहे हैं।

भारत में विभिन्न क्षेत्राों की विकास दर को यह तालिका दिखाती है।

तालिका–1

विभिन्न क्षेत्रों में आय वृद्वि दर

काल	कृषि	उद्योग	सेवा	फैक्टर कास्ट पर सकल घरेलू उत्पाद
1980–1 से 1990–1	3.08	5.79	6.54	5.15
1992–2 से 2002–3	2.60	5.82	7.65	5.85
1992–3 से 2005–06	2.57	6.05	7.72	6.00
1950–1 से 2005–06	2.54	5.19	5.40	4.26

स्त्रोत : Agrarian crisis in india,DN Reddy & S.Mishra,Oxford University Press, New Delhi, 2009,Table 1.7

इसी तथ्य को यह तालिका भी दिखाती है :

तालिका–2					
कृषि व गैर कृषि क्षेत्र में प्रति व्यक्ति आय					
काल	प्रति व्यक्ति आय		कृषि गैर कृषि का अनुपात	दशकीय वृद्धि दर (%)	
	कृषि	गैर कृषि		कृषि	गैर कृषि
1978–9 से 1983–4	9961	28430	2.85	..	..
1988–9 से 1993–4	11179	39355	3.52	1.16	3.31
1998–9 से 2003–04	11496	59961	5.22	0.28	4.30
स्त्रोत : वही, Table 1.10					

ये दोनों तालिकाएं दिखाती हैं कि खेती में आय अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों के मुकाबले तो तेजी से पिछड़ी ही हैं। इसकी अपने आप में भी विकास दर धीमी हुयी है। प्रति व्यक्ति आय तो **1988– 89** से **1998–99** के बीच बहुत धीमी गति से बढ़ी।

एक प्रवृत्ति और भी स्पष्ट रूप से मुखर है। जैसा कि परिशिष्ट की तालिका दिखाती है। उदारीकरण के पिछले दो दशकों में जहां सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि दर में तेजी आयी वहीं कृषि में वृद्धि दर घटी। साथ ही यह बहुत ज्यादा अस्थिर रही। अभी पिछले तीन वर्षों में यह वृद्धि दर इस प्रकार रही: **2008–09** में **(-)0.1, 2009–10** में **0.4** और **2010–11** में **5.4** प्रतिशत। तीन सालों की सामान्य औसत वृद्धि दर महज **1.9** प्रतिशत बैठती है।

जैसा कि पहले कहा गया है, अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में विकास दर की इस प्रवृत्ति के चलते कुल अर्थव्यवस्था में खेती का हिस्सा लगातार गिरता गया है। यह गिरकर **2010** में **14.2** प्रतिशत तक आ गया। लेकिन कृषि पर निर्भर आबादी में इसी तेजी से गिरावट नहीं हो रही है।

भारतीय खेती की इस प्रवृत्ति को यह तालिका दिखाती है:

तालिका–3		
सकल घरेलू उत्पाद और रोजगार में कृषि का हिस्सा (प्रतिशत)		
साल	1999–2000 की कीमतों पर सकल घरेलू उतपाद में कृषि का हिस्सा	रोजगार में कृषि का हिस्सा
1972–3	41.0	73.9
1993–4	30.0	63.9
1999–2000	25.0	60.2
2004–5	20.2	56.5
स्त्रोत : वही, Table 1.2		

जहां रोजगार में कृषि का लगातार कम होता हिस्सा कृषि में पूंजीवाद की गति को दिखाता है, वहीं इस पर अभी भी विशाल आबादी की निर्भरता इस विकास की विशिष्ट गति को भी प्रदर्शित करती है। स्वयं देहातों में कृषि और गैर कृषि रोजगार की गति इस प्रकार है :

तालिका–4					
देहाती रोजगार की संरचना (प्रतिशत)					
देहाती रोजगार	**1983**	**1987–8**	**1993–4**	**1999–2000**	**2004–5**
कृषि	81.49	77.46	78.39	76.16	70.08
गैर कृषि	18.51	22.54	21.61	23.84	29.92
देहाती श्रम शक्ति की स्थिति					
स्वरोजगार	61.37	59.5	57.96	55.76	60.2
नियमित मजदूर	7.15	7.79	6.45	6.83	7.1
आकस्मिक मजदूर	31.49	32.72	35.59	37.41	32.8
स्त्रोत : वही, Table 1.1					

तलिका**–4** एक महत्वपूर्ण तथ्य उजागर करती है, जिस पर आगे और विस्तार से चर्चा की जायेगी। देहातों में खेती में लगी आबादी लगातार कम होती गयी है लेकिन **1999–2000** व **2004–05** के बीच स्वरोजगार में लगे लोगों की संख्या बढ़ गयी जबकि लगभग

उसी अनुपात में आकस्मिक मजदूरों की संख्या घट गयी। स्वरोजगार में यह बढ़ोत्तरी गैर कृषि क्षेत्रा में थी। होना तो यह चाहिए था कि इस काल में कृषि रोजगार में जो कमी आयी उसके चलते किसी हद तक मजदूरों की संख्या बढ़ती जबकि इसका ठीक उलटा हो गया। गैर कृषि क्षेत्रा में यह रोजगार भीषण दरिद्रता की ओर इंगित करता है जहां देहातों में मजदूरी का काम मिलना भी मुश्किल हो रहा है।

भारतीय कृषि की अपने पहले के मुकाबले ही कम विकास दर और इसका सकल घरेलू उत्पाद में तेजी से गिरता हिस्सा, जबकि समग्र अर्थव्यवस्था तेजी से वृद्धि कर रही हो, देहातों और खासकर कृषि में दरिद्रीकरण को तो दिखाता है लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि देहातों में सारे ही दरिद्र हो रहे हैं। और न ही वह यह दिखाता है कि शहरों में मजदूरों की आय में तेजी से वृद्धि हो रही है। वस्तुतः दोनों ही मामलों में बात ठीक उलटी है। लेकिन इस पर विस्तार बाद में।

कृषि में गिरती वृद्धि दर का सीधा संबंध भारत के पूंजीपति वर्ग की वर्तमान स्थिति और उसके द्वारा अपनाई गयी नीतियों से है। उदारीकरण के पिछले दशकों में भारत के पूंजीपति वर्ग ने अपनी समूची अर्थव्यवस्था के लिए एक निश्चित दिशा अख्तियार की है। उसी के एक हिस्से के तौर पर भारत की कृषि को भी उसने अर्थव्यवस्था में एक निश्चित स्थान दिया है। इसे सबसे अच्छे ढंग से कृषि उत्पादों के आयात–निर्यात के आकड़े प्रस्तुत करते हैं।

तालिका–5

भारत का कृषि आयात व निर्यात

साल	कुल कृषि आयात (अरब रुपये)	कुल आयात का प्रतिशत	कुल कृषि निर्यात (अरब रुपये)	कुल निर्यात का प्रतिशत
1990-91	12.06	2.79	60.12	18.49
1991-92	14.78	3.09	78.38	17.80
1992-93	28.76	4.54	90.40	16.84
1993-93	23.27	3.18	125.87	18.05
1994-94	59.37	6.6	132.22	15.99
1995-95	58.90	4.8	203.97	19.88
1996-96	66.12	4.76	241.61	20.33
1997-97	87.84	5.70	248.32	19.09
1998-98	145.66	8.17	255.11	18.25
1999-20	160.67	7.45	253.14	15.91
2000-01	120.86	5.29	286.58	14.23
2001-02	162.56	6.63	297.28	14.22
2002-03	176.09	5.92	346.54	13.58
2003-04	219.73	6.12	372.67	12.70
2004-05	228.82	4.55	466.03	11.08
2005-06	214.99	3.26	492.17	10.78
2006-07	296.38	3.53	624.11	10.92
2007-08	297.77	3.09	777.70	12.15

स्त्रोत : Agricultural Statistics at A Glance 2008, Ministry of Agriculture Academic Foundation, New Delhi Table 13.1

भारत से कृषि उत्पादों का निर्यात **1990–1991**में कुल उत्पादों का **18.49** प्रतिशत था जो थोड़ा घटते–बढ़ते हुए **1996–97** में करीब **20** प्रतिशत तक पहुंचा जो उसके बाद लगातार घटता गया है। इसके मुकाबले आयात एकदम भिन्न प्रवृत्ति दिखाते हैं। ये कभी घटते रहे हैं तो कभी बढ़ते रहे हैं। यहां तक कि निरपेक्ष तौर पर भी (रुपये में) ये आयात घटते–बढ़ते रहे हैं।

घरेलू खपत के लिए कृषि उत्पादों के आयात की यह अस्थिरता केवल इसी बात की अभिव्यक्ति है कि भारत के पूंजीपति वर्ग ने इसे पूर्णतया अंतर्राष्ट्रीय बाजार के हवाले कर दिया है। इस तरह देश में कृषि मालों का उत्पादन और खपत दोनों अंतर्राष्ट्रीय बाजार से संबद्ध हो गयी है। कृषि मालों के उत्पादन और खपत के बाजार की शक्तियों (बाहरी एवं भीतरी दोनों) पर निर्भर होने का सीधा सा मतलब था कि सरकार कृषि से अपने को किसी हद तक अलग कर लेती। यह उसकी उदारीकरण की आम नीतियों के अनुरूप तो था ही साथ ही कृषि के संबंध में उसके उस विशिष्ट रुख के अनुरूप भी था कि कृषि में स्वावलम्बन के बदले जरूरत हो तो कृषि मालों का आयात कर लो। इस तरह भारत के पूंजीपति वर्ग ने अपनी अर्थव्यवस्था के आम विकास (उद्योग व सेवा क्षेत्रा) से कृषि क्षेत्रा को विच्छिन्न कर दिया। अब नेहरू के जमाने की उस घोषित नीति को छोड़ दिया गया कि उद्योगों का विकास कृषि के विकास पर निर्भर करता है। भारत का पूंजीपति वर्ग अब वहां पहुंच गया कि वह अपने समग्र पूंजी संचय के लिए यह ऐश हासिल कर सके।

उद्योगों और सेवा क्षेत्रा में विकास की कृषि क्षेत्रा में विकास से यह विच्छिन्नता भारत की अर्थव्यवस्था में एक गुणात्मक मोड़ की सूचक है। अब कृषि में शून्य या नकारात्मक विकास दर के बावजूद (जैसे कि **2008–09** और **2009–10** में) बाकी अर्थव्यवस्था तेज गति से विकास कर सकती है। अभी भी लगभग आधी आबादी का बोझ उठाने वाली कृषि की भारत की पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में ये स्थिति अजीबोगरीब गतियों और जटिलताओं को जन्म देती है।

खेती के प्रति भारत के पूंजीपति वर्ग के इस दृष्टिकोण का परिणाम इसकी समग्र गति पर पड़ना ही था। इसी के परिणाम स्वरूप खेती में पूंजी निर्माण की प्रक्रिया धीमी हुयी, खासकर सार्वजनिक क्षेत्रा द्वारा पूंजी निर्माण में। यह देखते हुए कि इसके पहले के चार दशकों में सरकार का रुख भिन्न था, इसने एक झटके से कृषि में वृद्धि दर को प्रभावित किया। नीचे की तालिका इसे प्रदर्शित करती है :

तालिका–6

खेती में पूंजी निर्माण

साल	कुल कृषि सकल घरेलू उत्पाद के प्रतिशत तौर पर कृषि में सकल पूंजी निर्माण		कुल सकल घरेलू उत्पाद के प्रतिशत के तौर पर कृषि में सकल पूंजी निर्माण	कुल सकल पूंजी निर्माण के प्रतिशत के तौर पर कृषि में सकल पूंजी निर्माण
	सार्वजनिक	निजि		
1980-81	4.0	5.2	3.0	16.1
1985-86	3.5	4.5	2.3	9.6
1990-91	2.4	8.1	2.8	11.5
1993-94	2.1	5.0	1.9	8.8
1994-95	2.3	4.3	1.7	7.3
1995-96	2.3	4.6	1.7	6.3
1996-97	2.1	4.9	1.7	7.9
1997-98	1.9	6.0	1.9	7.9
1998-99	1.8	5.6	1.8	7.8
1999-2000	1.9	9.3	2.6	9.8
2000-01	1.8	8.5	2.2	9.2
2001-02	2.1	10.3	2.6	11.1
2002-03	2.0	11.1	2.5	10.1
2003-04	2.3	9.3	2.2	8.4
2004-05	2.5	10.7	2.3	7.6

स्त्रोत : वही, Table 1.9

तालिका दिखाती है कि कृषि में पूंजी निर्माण **1990** के दशक के मध्य में अपने न्यूनतम स्तर पर जा पहुंचा जब सार्वजनिक और निजी दोनों क्षेत्राों में यह अति न्यून हो गया। इसके गंभीर परिणाम **1990** के दशक के उत्तरार्ध में आने शुरू हुए। तब कृषि संकट के शोर–शराबे के बाद सार्वजनिक क्षेत्रा में पूंजी निर्माण में कुछ बेहतरी हुयी। लेकिन कृषि में पूंजी निर्माण में इस बाद के काल में असली इजाफा निजी क्षेत्रा में हुआ। इसके बावजूद **2000** के दशक के मध्य में भी खेती में पूंजी निर्माण **1980** के स्तर के बहुत नीचे था। यह गौरतलब है कि **2004–05** में सकल घरेलू उत्पाद में कृषि का हिस्सा करीब **20** प्रतिशत था जबकि देश में सकल पूंजी निर्माण में इसका हिस्सा महज **7.6** प्रतिशत। यह उद्योग के मुकाबले कृषि के लगातार पिछड़ते जाने को दिखाता है।

यह महत्वपूर्ण तथ्य तालिका से उभरता है कि कृषि में सार्वजनिक पूंजी निर्माण की गति **1980** के दशक में ही धीमी पड़नी शुरू हो गयी थी। **1980–81** में यह सकल कृषि उत्पाद के **4.0** प्रतिशत से घटकर **1990–91** में **2.4** प्रतिशत रह गयी थी। इसीलिए **1990** के दशक में कृषि की दुर्गति एकाएक नहीं थी। इसकी पृष्ठभूमि **1980** के दशक में ही तैयार हो रही थी। एक ओर तथाकथित हरित क्रांति (संवर्धित बीज, रासायनिक खाद व कीटनाशक इत्यादि का प्रसार) देश के अन्य इलाकों में पांव पसार रही थी तो दूसरी ओर सरकार धीमे–धीमे कृषि से अपने हाथ पीछे खींच रही थी। यह भी **1980** के दशक में भारत के पूंजीपति वर्ग की आम गति के अनुरूप था जब वह धीमे–धीमे निजीकरण–उदारीकरण–वैश्वीकरण की ओर बढ़ रहा था। यह देखते हुए कि इसके पहले भारत की कृषि किस कदर सरकारी प्रोत्साहन और सहायता पर निर्भर थी, इसके गंभीर परिणाम सामने आने ही थे।

जैसा कि पहले कहा गया है भारतीय कृषि की इस गति ने पिछले दो दशकों में छोटी किसानी व्यवस्था को बड़ी तेजी के साथ तबाही में धकेल दिया है। लेकिन इसमें ज्यादा गंभीर बात यह हुयी है कि भारतीय पूंजीवाद की खास गति के कारण तबाह होने वाले किसान तेजी से सर्वहारा बन जाने के बदले भांति–भांति के तथाकथित स्वरोजगार में कंगाली का जीवन जीने के लिए मजबूर हो रहे हैं। देश के **40** प्रतिशत किसान खेती छोड़ देना चाहते हैं लेकिन वे इससे चिपके रहने के लिए मजबूर हैं। देहातों में बड़े पैमाने की ऋणग्रस्तता और किसानों की आत्महत्याएं इसी की अन्य अभिव्यक्तियां हैं। लेकिन इस पर आने के पहले एक अन्य तथ्य को नोट कर लें। यह भारत के खास तरह के पूंजीवाद की विशिष्टता ही है कि देश के समग्र पूंजीवादी विकास और पिछले दो दशकों की तेज वृद्धि दर के बावजूद बल्कि इसी कारण देश में प्रति व्यक्ति खाद्यान्न उपलब्धता गिर कर चार दशक पहले के स्तर पर चली गयी है।

तालिका–7

खाद्यान्न उपलब्धता (ग्राम प्रतिदिन प्रति व्यक्ति)

साल	चावल	गेहूँ	अन्य अनाज	कुल अनाज	चना	दालें	खाद्यान्न
1951	158.9	65.7	109.6	334.2	22.5	60.7	394.9
1956	187.7	61.5	111.2	360.4	29	70.3	430.7
1961	201.1	79.1	119.5	399.7	30.2	69.0	468.7
1966	161.9	95.4	102.6	359.9	18.3	48.2	408.1
1971	192.6	103.6	121.4	417.6	20.0	51.2	468.8
1976	187.2	79.5	107.4	373.8	20.2	50.5	424.3
1981	197.8	129.6	89.9	417.3	13.4	37.5	454.8
1985	188.8	138.6	87.9	415.3	12.9	38.1	453.4
1991	221.7	166.8	80	468.5	13.4	41.6	410.1
1995	220	172.7	64.9	457.2	14.9	37.8	495.5
2000	203.7	160	59.0	422.7	10.8	31.8	454.4
2005	177.3	154.3	59.4	390.9	10.6	31.5	422.4
2007(P)	196.8	156.1	58.9	409.9	11.9	29.4	439.3

स्त्रोत : Agricultural Statistics, वही, Table 10.1

तालिका दिखाती है कि देश में खाद्यान्न उपलब्धता **1991** में प्रति व्यक्ति प्रति दिन **510** ग्राम से घटकर **2007** में केवल **439** ग्राम रह गई। इस तथ्य के बावजूद भारत के पूंजीपति वर्ग का विद्वान अर्थशास्त्राी और देश का प्रधानमंत्राी कहता है कि अनाजों के दाम इसलिए बढ़ रहे हैं क्योंकि लोग ज्यादा उपभोग कर रहे हैं। उपभोग करने के लिए उपलब्ध प्रति व्यक्ति कुल खाद्यान्न घटता जा रहा है और प्रधानमंत्राी की नजर में लोग ज्यादा उपभोग कर रहे हैं।

II
छोटी किसानी व्यवस्था की तबाही

भूमि वितरण में बड़ी असमानता के बावजूद भारत में बहुत व्यापक पैमाने पर छोटी किसानी विद्यमान है। पीढ़ी–दर–पीढ़ी जमीन के बंटवारे ने इस प्रवृत्ति को और बढ़ाया है। एक ओर जहां कृषि में पूंजीवादी विकास के चलते किसी हद तक जमीनों के संकेद्रण की तथा उलटी किरायेदारी की प्रवृत्ति है तो दूसरी और पीढ़ी–दर–पीढ़ी विभाजन से प्रति जोत जमीन का औसत रकबा घटता चला गया है। नीचे की दो तालिकायें इसे दिखाती हैं:

तालिका–8

भारत में जोतों की कुछ विशेषताएं

विशेषता (चारित्रिक)	1960-61	1970-71	1981-82	1991-92	2003
कुल जोतों की संख्या (करोड़)	5.077	5.707	7.104	9.345	10.127
क्षेत्रफल (करोड़ हेक्टेयर)	13.348	12.568	11.857	12.510	10.765
प्रति जोत औसत क्षेत्रफल	2.63	2.20	1.67	1.34	1.06

स्त्रोत : वही, table 1.4

तालिका दिखाती है कि बीसवीं सदी के आखिरी चार दशकों में कुल खेती घरानों की संख्या दुगुनी हो गई। इसी के अनुरूप प्रति मालिकाना खेती का क्षेत्राफल भी आधा या उससे भी कम हो गया।

यहां भारत की कृषि का यह तथ्य काबिलेगौर है कि एक ओर बड़ी जोतों की संख्या में सापेक्ष और निरपेक्ष तौर पर कमी आयी है तो साथ ही बड़ी व छोटी जोतों के बीच असमानता भी मुखर हुई है। पहले जहां (**1960-61**) में मध्यम और बड़ी जोतों की संख्या कुल जोतों का करीब **20** प्रतिशत और क्षेत्राफल **50** प्रतिशत था वहीं **2003** में ये संख्या में करीब **5** प्रतिशत और क्षेत्राफल में **34** प्रतिशत थीं। नीचे की तालिका इसे दिखाती है:

तालिका–9

जोतों की संख्या और क्षेत्रफल में परिवर्तन

	जोतों का प्रतिशत					**खेती के क्षेत्रफल का प्रतिशत**				
श्रेणी	1960-61	1970-71	1981-82	1991-92	2003	1960-61	1970-71	1981-82	1991-92	2003
सीमांत	39.1	45.8	56	62.8	71	6.9	9.2	11.5	15.6	22.6
छोटा	22.6	22.4	19.3	17.8	16.6	12.3	14.8	16.6	18.7	20.9
अर्ध मध्यम	19.8	17.7	14.2	12	9.2	20.7	22.6	23.6	24.1	22.5
मध्यम	14	11.1	8.6	6.1	4.3	31.2	30.5	30.1	26.4	22.2
बड़ा	4.5	3.1	1.9	1.3	0.8	29.0	23.0	18.2	15.2	11.8
कुल	100.0	100.0	100.0	100.0	100.0	100.0	100.0	100.0	100.0	100.0

सीमांत < 1.0 हेक्टेयर, छोटा 1.0 से 2.0 हेक्टेयर, अर्ध मध्यम 2.0 से 4.0 हेक्टेयर, मध्यम 4.0 से 10.0 हेक्टेयर, बड़ा > 10.0 हेक्टेयर स्त्रोत : वही, table1.5

1960 के बाद के चार दशकों में सीमांत, छोटी और अर्ध मध्यम जोतों की संख्या कुल जोतों की **78.5** प्रतिशत से बढ़कर **95** प्रतिशत हो गई और इन जोतों का क्षेत्राफल करीब **50** प्रतिशत से बढ़कर **66** प्रतिशत हो गया। बड़ी जोतों की संख्या अब महज **5** प्रतिशत

रह गई है। यह महत्वपूर्ण है कि बड़ी जोतों का औसत क्षेत्राफल लगभग स्थिर है। इसका मतलब है कि छोटी जोतों का औसत क्षेत्राफल घटता गया है।

तालिका यह दिखाती है कि **2003** में करीब **70** प्रतिशत जोतें सीमान्त किसानों की थीं जो करीब **22** प्रतिशत जमीन के रकबे के मालिक थे। छोटे और सीमान्त (**5** एकड़ से कम) किसान मिलकर कुल **85** प्रतिशत से ज्यादा जोतों के मालिक बन जाते थे तथा इनके पास **40** प्रतिशत से ज्यादा जमीन का रकबा था।

भारत के पूंजीपति वर्ग ने जब निजीकरण–उदारीकरण–वैश्वीकरण की नीतियों पर चलना शुरू किया तो खेती में इसकी मार सबसे ज्यादा छोटी किसानी अर्थव्यवस्था पर पड़ी। अर्ध मध्यम स्तर तक के किसान खुले पूंजीवाद की बाजार की शक्तियों के सामने धराशाई होने लगे। खेती में पूंजीवादी संबंधों की प्रधानता ने उन्हें पूंजी की अराजक गति की मार की सीधी लाइन में खड़ा कर दिया।

बात केवल इतनी नहीं थी कि छोटी किसानी को अपने उत्पादों के तेजी से उतरते–चढ़ते बाजार भाव का सामना करना पड़ा। (कृषि उत्पादों के दाम अंतर्राष्ट्रीय बाजार, आयात–निर्यात व्यापारियों तथा बिचौलियों–जमाखोरों और सट्टेबाजों के चलते बहुत तेजी से ऊपर–नीचे होने लगे)। इससे भी आगे यह कि इन्हें कृषि में आगतों के लिए लगातार बढ़ती दर पर खर्च करना पड़ा। सरकारी राहत कम होने से आगतों के दाम बढ़े। निजी कंपनियों ने बीज, कीटनाशकों के मनमाने दाम वसूले। सिंचाई के लिए खर्च बेतहाशा बढ़ गया। इसी के साथ मृदाक्षरण इत्यादि की समस्यायें भी विकराल हो गयीं। ऐसे में यदि मौसम में गड़बड़ी हुई या फसलों को किसी अप्रत्याशित बीमारी या कीटों का सामना करना पड़ा तो छोटी किसानी व्यवस्था असहनीय संकटों का शिकार हो जाती थी।

ऊपरी तौर पर यह पूंजीवादी बाजार व्यवस्था की सामान्य गति है। लेकिन भारत के पूंजीवादी विकास की खास प्रकृति और पूरे पूंजीवादी समाज की खास स्थिति के चलते यह बहुत भीषण रूप धारण कर लेती है। इसी के फलस्वरूप न केवल छोटी किसानी व्यवस्था तेजी से तबाही की ओर बढ़ी बल्कि इसने बड़े पैमाने पर देहाती ऋणजाल तथा किसानों की आत्महत्याओं की परिघटना को पैदा किया।

पूंजीवाद में छोटी किसानी अर्थव्यवस्था व्यवस्था की यह सामान्य नियति है। इससे केवल पूंजीवादी सरकारों का व्यापक संरक्षण ही किसी हद तक बचा सकता है (जैसे कि यूरोप व अमेरिका की सरकारें कर रही हैं)। लेकिन भारत की पूंजीवादी सरकार ने इसका ठीक उलटा रुख अपनाया। इसने उदारीकरण के दौर में पलड़े को औद्योगिक और बड़ी पूंजी के पक्ष में झुका दिया। बहुत छोटी सम्पत्ति का मालिक न केवल बड़ी पूंजी के मुकाबले बाजार में उतरा बल्कि वह बेहद प्रतिकूल शर्तों के साथ बाजार में उतरा। छोटी किसानी व्यवस्था के लिए बैंकों से ऋण उपलब्धता में गिरावट इसका केवल एक नमूना है। ऐसे में छोटी किसानी अर्थव्यवस्था की तेजी से तबाही तय थी।

पूंजीवादी कारोबार में ऋण का केन्द्रीय महत्व है। ऋण की उपलब्धता और ब्याज दरें कारोबार को सीधे प्रभावित करती हैं। यह याद रखना होगा कि तथाकथित हरित क्रांति के सूत्रापात के साथ किसानों तक संस्थागत ऋणों का बड़े पैमाने का प्रसार हुआ था। बल्कि इस हरित क्रांति के लिए यह निहायत जरूरी था। उक्त प्रक्रिया को और उसकी विपरीत प्रक्रिया को भी नीचे की तालिका स्पष्ट तौर पर दिखाती है :

तालिका–10

कृषक घरों द्वारा विभिन्न स्त्रोतों से ऋण (प्रतिशत)

ऋण स्त्रोत	1951	1961	1971	1981	1991	2003
संस्थागत	7.3	18.7	31.7	63.2	66.3	57.7
सहकारी संस्था/बैंक	3.3	2.6	22.0	29.8	30.0	19.6
कमर्शियल बैंक	0.9	0.6	2.4	28.8	35.2	35.6
गैर संस्थागत	92.7	81.3	66.3	36.8	30.6	42.3
सूदखोर	69.7	49.2	36.1	16.1	17.5	25.7
अज्ञात	-	-	-	-	3.1	-
कुल	100.0	100.0	100.0	100.0	100.0	100.0

स्त्रोत : वही, table 3.4

यह तालिका तीक्ष्णता से दिखाती है कि कैसे **1951** से **1991** के बीच संस्थागत ऋण स्रोत बढ़ता गया और गैर संस्थागत ऋण स्रोत पीछे हटता गया। सूदखोरों से प्राप्त ऋण इन सालों में **69.7** प्रतिशत से घट कर केवल **17.5** प्रतिशत रह गये। लेकिन साथ ही यह तालिका यह भी दिखाती है कि **1991** के बाद के सालों में एक बार फिर गैर संस्थागत स्रोतों और सूदखोरों की भूमिका बढ़ी है।

लेकिन ये आंकड़े तो समग्र तस्वीर के लिए हैं। किसानों की विभिन्न श्रेणियों के मामले में इनकी क्या स्थिति है, यह इस तालिका से स्पष्ट नहीं होता। इसे नीचे की तालिका दिखाती है:

तालिका–11								
2003 में जोतों की श्रेणी के हिसाब से ऋणों के स्त्रोतों का वितरण (प्रतिशत)								
जोतों का आकार (हेक्टेयर)	**संस्थागत**				**गैर संस्थागत**			**कुल**
	कुल	**सरकार**	**सहकारी संस्थाएं**	**बैंक**	**कुल**	**सूदखोर**	**रिश्तेदार एवं मित्र**	
0.01 से कम	22.6	1.9	5.3	15.5	77.7	47.3	23.1	100.0
0.01-0.40	43.3	4.0	14.5	24.8	56.7	31.8	14.9	100.0
0.40-1.00	52.8	3.8	17.0	32.0	47.2	30.8	9.1	100.0
1.00-2.00	57.6	1.7	20.5	35.4	42.4	25.9	8.8	100.0
2.00-4.00	65.1	1.5	22.6	41.0	34.9	23.4	5.1	100.0
4.00-10.00	68.8	1.3	23.0	44.5	31.2	16.7	5.6	100.0
10.00 से अधिक	67.6	1.7	23.2	42.7	32.4	17.2	4.0	100.0
सभी	57.7	2.5	19.6	35.6	42.3	25.7	8.5	100.0
स्त्रोत : वही, table 3.5								

यह तालिका दिखाती है कि भूमिहीन, सीमांत और छोटे किसान ही सबसे ज्यादा गैर संस्थागत स्रोतों से ऋण ले रहे हैं। भूमिहीन और सीमांत के मामले में तो यह आधे से भी ज्यादा है। इसके मुकाबले मध्यम और बड़ी जोतों के मालिक गैर संस्थागत और खासतौर पर सूदखोरों पर कम निर्भर हैं।

यहां केवल स्रोतों का मामला नहीं है। संस्थागत स्रोतों से ऋणों पर ब्याज पर जहां **10** से **20** प्रतिशत होती है वहीं गैर संस्थागत स्रोतों पर ब्याज दर, खासकर सूदखोरी के मामले में **30, 50** या **100** प्रतिशत अथवा ज्यादा भी हो सकती है। और ठीक संसाधन विहीन गरीब और छोटे किसान ही सीमाहीन ब्याज दरों वाले सूदखोर के ऋण के जाल में फंसते हैं।

पूरे देश के पैमाने पर देखा जाय तो सभी श्रेणियों में लगभग आधे या उससे ज्यादा किसान ऋणों से ग्रस्त हैं। नीचे की तालिका इसे दिखाती हैः

तालिका–12		
2003 में विभिन्न जोतों की श्रेणियों में ऋणग्रस्तता		
जोतों का आकार (हेक्टेयर)	कुल ऋणग्रस्त जोतों का प्रतिशत	औसत ऋण (रुपया)
0.01 से कम	45.3	6121
0.01-0.40	44.4	6545
0.40-1.00	45.6	8623
1.01-2.00	51	13762
2.01-4.00	58.2	23456
4.01-10.00	65.1	42532
10 से अधिक	66.4	76232
कुल	48.6	12585
स्त्रोत : Agricultural Statistics, वही table 17.2		

यह ऋणग्रस्तता कुछ प्रदेशों में बहुत ज्यादा है। यह आंध्र प्रदेश में **82,** केरल में **64.4,** पंजाब में **65.4,** तमिलनाडु में **74.5,** कर्नाटक में **61.6** तथा महाराष्ट्र में **54.8** प्रतिशत है। महत्वपूर्ण बात यह है कि यह बिहार में **33,** झारखंड में **20.9,** उत्तर प्रदेश में **40.3** तथा छत्तीसगढ़ में **40.2** प्रतिशत है। ये ठीक ज्यादा ऋणग्रस्तता वाले प्रदेश ही हैं जिनमें सबसे ज्यादा किसानों ने आत्महत्यायें की हैं।

गांवों में किसानों की यह ऋणग्रस्तता पुराने तरह की नहीं हैं। इसमें सूदखोर भी परंपरागत के बदले आधुनिक हैं। अक्सर ही ये आगतों के आपूर्तिकर्ता, कृषि उत्पादों के खरीददार तथा स्थानीय बड़े व्यवसायी या धनी किसान होते हैं। इसी के साथ संस्थागत ऋणों वाली संस्थाओं ने भी अपने कर्जों की वसूली के लिए क्रूर तरीके अपनाये हैं।

वस्तुतः देहातों में आज कर्जों का बड़े पैमाने का व्यवसाय होने लगा है। भांति–भांति की संस्थाओं के साथ गैर संस्थागत सूदखोर इसमें जोर–शोर से लगे हुए हैं। यह इस हद तक हुआ है कि निजी सूदखोरी को कानूनी मान्यता देने के प्रयास होने लगे हैं। बैंकों और अन्य वित्तीय संस्थाओं ने कर्जों के व्यवसाय की आउट सोर्सिंग शुरू कर दी है। खासकर गरीब किसानों की शोचनीय स्थिति का फायदा उठाने के लिए सूक्ष्म वित्त कंपनियां (माइक्रो फाइनेन्स) बड़े पैमाने पर सक्रिय हो गई हैं। वे आधुनिक कारपोरेट सूदखोरी कर रही हैं जिसमें गरीब लोगों की सहायता करने के नाम पर उनसे **30** से **50** प्रतिशत ब्याज वसूला जा रहा है।

उपरोक्त सारी शक्तियों ने मिलकर छोटी किसानी व्यवस्था को जिस तबाही की ओर धकेला उसने किसानों को आत्महत्या के लिए मजबूर किया। वस्तुतः बड़े पैमाने पर किसानों की आत्महत्याओं ने ही कृषि संकट को आम चर्चा का विषय बनाया।

देश के उन कुछ प्रमुख प्रदेशों में आम आत्महत्या की दरों और किसानों की आत्महत्या की दरों को नीचे की तालिका दिखाती है जिसमें पिछले सालों में ज्यादा किसानों के आत्महत्या करने की खबरें आई है। गौरतलब है कि ये ही ज्यादा ऋणग्रस्त प्रदेश भी हैं तथा नकदी फसलों के उत्पादक भी।

तालिका–13

प्रति लाख आत्महत्या की दर

साल	भारत		आन्ध्र प्रदेश		कर्नाटक		केरल		महाराष्ट्र		पंजाब	
	कुल पुरुष	किसान पुरुष	कुल पुरुष	किसान पुरुष	कुल पुरुष	किसान पुरुष	कुल पुरुष	किसान पुरुष	कुल पुरुष	किसान पुरुष	कुल पुरुष	किसान पुरुष
1995	12.5	10.5	11.4	13.6	31.8	33.6	42.0	127.4	17.4	14.7	4.4	5.2
1996	11.9	12.2	13.3	24.4	24.8	30.9	40.2	109.3	16.0	23.5	4.1	7.3
1997	12.9	12.7	14.8	17.5	28.1	31.3	45.7	138.8	17.7	23.9	4.0	6.1
1998	13.8	14.8	16.6	28.8	30.0	30.1	47.4	172.7	18.9	29.0	5.3	5.9
1999	14.4	15.3	18.1	30.0	33.4	41.4	49.6	182.4	18.5	30.6	6.6	4.8
2000	14.2	15.7	17.4	22.8	33.2	43.5	47.4	184.6	19.6	37.3	5.5	4.1
2001	14.0	16.2	18.2	25.6	32.3	44.5	48.3	161.8	20.6	44.1	3.4	2.4
2002	14.3	18.1	21.2	31.8	32.6	41.6	50.5	258.5	20.3	47.3	3.3	2.3
2003	14.5	18.0	20.7	28.5	33.2	48.3	48.5	298.0	20.6	50.8	4.1	1.5
2004	14.4	19.2	24.7	44.6	31.2	35.5	45.8	183.4	20.3	57.3	4.1	4.3
2005	14.1	18.3	23.7	41.2	29.5	34.7	47.0	249.3	19.3	55.1	3.8	2.8
2006	14.4	18.2	23.4	41.6	30.2	30.4	44.9	260.4	20.6	4.7	4.7	5.1

स्त्रोत : वही, table 1.12

III

ग्रामीण वर्गीय संरचना और गतियां

अभी तक कृषि संकट और छोटी किसानी अर्थव्यवस्था की तबाही के संदर्भ में भारत के पूंजीपति वर्ग की चर्चा की गई है। इससे आशय देश के शासक बड़े औद्योगिक बुर्जुआ से रहा है। लेकिन इस बड़े एकाधिकारी बुर्जुआ के अलावा भी देशी बुर्जुआ के अन्य हिस्से हैं। आम तौर पर इनके हित समान होते हुए भी विशिष्ट मामलों में इनके अंतर्विरोध भी होते हैं।

देहाती बुर्जुआ भी भारत के पूंजीपति वर्ग का एक हिस्सा है। भारत की समग्र पूंजीवादी व्यवस्था में इसके भी समान हित हैं। इसके समग्र पूंजीवादी व्यवस्था और पूंजीपति वर्ग के अन्य हिस्सों के साथ संबंधों के बारे में हम अगले हिस्से में बात करेंगे। अभी कृषि संकट और छोटी किसानी व्यवस्था की तबाही में इसकी भूमिका पर चर्चा की जायेगी।

छोटे किसानों (अर्ध मध्यम जोतों तक) की तबाही को केवल बाजार की अमूर्त शक्तियों के परिणाम के रूप में देखना गलत होगा। यह पूंजीवादी बाजार व्यवस्था को आदर्श–अमूर्त रूप में देखना होगा। असल में बाजार की ये शक्तियां बेहद ठोस रूप में, मूर्त एजेन्टों के माध्यम से काम कर रही हैं। ग्रामीण बुर्जुआ इसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है।

देश के पूंजीवादी विकास के फलस्वरूप देहातों में भी एक पूंजीपति वर्ग का उदय हुआ है। यह कृषि और गैर कृषि दोनों क्षेत्राों में कार्यरत है। अक्सर ही यह बुर्जुआ दोनों तरह के कारोबार में लिप्त होता है।

कृषि में आज धनी किसानों, कुलकों और पूंजीवादी फार्मरों का एक वर्ग है जो कृषि में प्रभुत्वशाली है। मंडियों से लेकर चीनी और गन्ना मिलों तक तथा सार्वजनिक बैंकों से लेकर सहकारी संस्थाओं तक इसे ही वरीयता मिलती है। कृषि से संबंधित सरकारी योजनाओं, राहतों–छूटों और सहकारी संस्थाओं में यही हावी होता है। तथाकथित हरित क्रांति का इसी ने सबसे अधिक लाभ उठाया है। कृषि में हासिल अतिरिक्त मूल्य को कृषि में निवेश करने के साथ इसने भांति–भांति के गैर कृषि कारोबार में भी निवेश किया है।

देहातों में कृषि के साथ–साथ गैर कृषि कारोबार भी पूंजीवादी उद्यमों के रूप में विकसित हुए हैं। निजी शिक्षा संस्थान, थोक और खुदरा व्यापार, सरकारी ठेका, कृषि उपकरणों की मैनुफैक्चरिंग व मरम्मत, परिवहन, चीनी मिल–धान मिल इत्यादि, कृषि उत्पादों के लिए गोदाम, मुर्गीफार्म–सुअर फार्म, भांति–भांति के कमीशन एजेंट, आधुनिक सूदखोरी इत्यादि कारोबार देहातों में फले–फूले हैं। इन कारोबारों में लिप्त पूंजीपति अक्सर ही खेतिहर पूंजीपति भी होते हैं। उन्होंने अपने व्यवसाय का वैविध्यीकरण किया होता है।

देहातों के ये पूंजीपति देश की समग्र पूंजीवादी व्यवस्था के साथ जुड़े होते हैं और वे देहात के कृषि और गैर कृषि मजदूरों का शोषण करते हैं। वे सीधे इन मजदूरों को अपने कारोबार में मजदूरी पर रखकर ऐसा करते हैं। लेकिन साथ ही देहात की छोटी किसानी व्यवस्था से भी इनका संबंध होता है और भांति–भांति के तरीकों से ये उसे चूसते हैं।

भांति–भांति की जगहों पर कमीशन एजेण्ट के तौर पर काम इसका एक तरीका है। सरकारी दफ़्तरों से लेकर थानों तक और बैंकों से लेकर नरेगा योजनाओं तक ये हर जगह सक्रिय हैं और अपना कमीशन वसूलते हैं। इसी तरह मिलों और गोदामों में भी वे सक्रिय हैं। वे बड़े आढ़तियों के एजेन्ट का भी काम करते हैं। हर जगह वे छोटे किसानों की बेबसी का फायदा उठाते हैं और उसके द्वारा उत्पादित अधिशेष का एक हिस्सा हड़प लेते हैं।

कृषि आगतों की खरीद और उत्पादों की बिक्री का भी छोटे किसानों को चूसने के लिए बड़े पैमाने पर इस्तेमाल किया जाता है। कृषि आगतों (खाद, बीज, कीटनाशक इत्यादि) के लिए मनमाने दाम वसूले जाते हैं, मिलावटी या नकली माल बेचा जाता है तथा इनको उधार लेने पर भारी ब्याज दरों के साथ कठोर शर्तें लगायी जाती हैं। कृषि उत्पाद की बिक्री के समय भी उसकी कमजोर स्थिति का फायदा उठाकर उसे निचोड़ा जाता है। सरकारी खरीद केन्द्रों से लेकर मिलों तक तथा गोदामों से लेकर आढ़तियों तक देहाती पूंजीपतियों की ही पहुंच होती है। इसका इस्तेमाल कर वे या तो छोटे किसान का उत्पाद बिकने नहीं देते या उसे बहुत कम दामों में बेचने को मजबूर करते हैं। आगतों के लिए उधार पर निर्भर और उधार देने वालों के दबाव में छोटा किसान अपना उत्पाद जिस–किसी दाम में बेचने को मजबूर होता है। कई बार तो आगतों के आपूर्तिकर्ता व्यापारी या कमीशन एजेन्ट ही इस 'डिस्ट्रेस सेल' को अंजाम देते हैं।

जैसा कि दूसरे हिस्से में कहा गया है, देहातों में बड़े पैमाने की ऋणग्रस्तता और सूदखोरी छोटी किसानी व्यवस्था की तबाही में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। लेकिन देहातों के सूदखोर परम्परागत सूदखोर नहीं हैं। अब अक्सर ही देहाती पूंजीपति सूदखोरी का व्यवसाय कर रहे हैं। परम्परागत सूदखोरों से उनकी एक मायने में समानता है। वे छोटे किसानों की मजबूरी का फायदा उठाकर ज्यादा से ज्यादा ब्याज दरें वसूलते हैं। लेकिन इस वसूली का वे अन्य क्षेत्राों में भी निवेश कर सकते हैं। छोटे किसानों की छोटी खेती को हड़पने में भी इसका इस्तेमाल किया जाता है।

कृषि आगतों के व्यापारियों और कमीशन एजेन्टों की छोटे किसान की ऋणग्रस्तता में अहम भूमिका है। नकदी फसलों में ज्यादा से ज्यादा उत्पादन लेने के लिए छोटे किसान अपनी हैसियत से बहुत आगे जाकर निवेश करते है। इसके लिए वे अक्सर आगतों के आपूर्तिकर्ताओं से उधार पर आपूर्ति लेते हैं। यह उधार कठोर शर्तों के साथ होते हैं। सामान्य अवस्था में भी यह उधार छोटे किसानों के लिए भारी पड़ता है। परन्तु यदि किसी वजह से फसल खराब हो जाय तो किसान की हालत गंभीर हो जाती है। ऐसे में छोटा किसान या तो अपनी छोटी खेती से हाथ धो बैठता है या फिर गंभीर ऋण जाल का शिकार हो जाता है। इसका भी अंतिम परिणाम उसकी छोटी सम्पत्ति का हरण होता है।

देहातों में उधार देने वाली संस्थायें भी छोटे किसानों की सहायता करने के बदले उसके ऋण जाल में फंसने में योगदान कर रही हैं। माइक्रो फाइनेंस कंपनियां तो पैदा ही इसीलिए हुई हैं, बैंक और सहकारी संस्थान भी ऋणों के बारे में अपनी कठोर शर्तों के कारण छोटे किसानों को सूदखोरों के चंगुल में ढकेलते हैं। ऋणों की वसूली के लिए सहकारी संस्थानों द्वारा किसानों की गिरफ़्तारी अक्सर ही छोटे किसान के लिए भारी विपदा साबित होती है। देहाती पूंजीपति छोटे किसान की सम्पत्तिहरण करने के लिए ऐसे मौके का इस्तेमाल करते हैं।

इस तरह देहातों में छोटे किसानों की तबाही बाजार व्यवस्था की अमूर्त शक्तियों का परिणाम होने के साथ–साथ देहाती पूंजीपतियों द्वारा छोटे किसानों के अधिशेष और उसकी छोटी सम्पत्ति के हरण का परिणाम भी है। बल्कि बाजार की अमूर्त शक्तियां इसी तरह से ठोस ढंग से काम करती हैं।

IV
कृषि संकट और समग्र पूंजीपति वर्ग

छोटे किसानों के अधिशेष और उसकी छोटी सम्पत्ति के हरण से लाभान्वित होने वाला देहाती पूंजीपति वर्ग अकेला नहीं है। बल्कि पूंजीपति वर्ग के अन्य हिस्से औद्योगिक और व्यापारिक बुर्जुआ भी इससे लाभान्वित हो रहे हैं।

जैसा कि पहले कहा गया है देहातों का पूंजीपति वर्ग समग्र पूंजीपति वर्ग का एक हिस्सा है। इस रूप में इसके भी देश की समग्र पूंजीवादी व्यवस्था में हित हैं। यह देहाती बुर्जुआ अपनी पूंजी के आकार में छोटा है। इसके देश की राज्य मशीनरी और खासकर राजनीतिक व्यवस्था से निश्चित संबंध हैं।

अक्सर ही देहाती पूंजीपति वर्ग पूंजीवादी राजनीतिक पार्टियों, चुनावी प्रक्रिया और राज्य मशीनरी के स्थानीय संस्तरों से घनिष्टता से जुड़ा होता है। वह इस सबका अपने पूंजी संचय और छोटे किसानों को चूसने के लिए इस्तेमाल करता है। यह देहातों का शोषक वर्ग ही नहीं, प्रभुत्वशाली शासक वर्ग भी है। राज्य सत्ता की निचली पायदान उसके साथ घुलमिल जाती है। सहकारिता, पंचायती राज और सरकारी योजनाओं के कार्यान्वयन में वही हावी होता है। इस रूप में पूंजीवादी राज्यसत्ता को गांव के स्तर पर संचालित करने के साथ–साथ वह समग्र पूंजीपति वर्ग के लिए किसी हद तक देहातों के शोषण के लिए नलिका का भी काम करता है। देहातों में इस देहाती पूंजीपति वर्ग की मौजूदगी और उसकी यह भूमिका इसीलिए कृषि संकट के संदर्भ में 'भारत बनाम इंडिया' के नारे को बेमानी बना देती है।

लेकिन इस देहाती बुर्जुआ का देश के बड़े औद्योगिक बुर्जुआ से अंतर्विरोध भी है। यह अंतर्विरोध बड़े एकाधिकारी बुर्जुआ और छोटे बुर्जुआ का अंतर्विराध तो है ही साथ ही औद्योगिक और कृषक बुर्जुआ का भी अंतर्विरोध है। पूंजीवादी उत्पादन व्यवस्था की आम विशेषता है कि इसमें उद्योग खेती का शोषण करता है। खेती से अधिशेष उद्योग को स्थानांतरित होता है। स्वभावतः ही यह अधिशेष खेतिहर पूंजीपति वर्ग की मेहनत की कमाई नहीं होता। यह वह अधिशेष होता है जिसे खेत मजदूर और छोटे किसान पैदा करते हैं। लेकिन बाजार की शक्तियों तथा देहाती पूंजीपतियों के माध्यम से यह अधिशेष औद्योगिक पूंजीपतियों को स्थानांतरित हो जाता है। ऐसे में कृषक और औद्योगिक (साथ ही व्यापारिक) बुर्जुआ के बीच स्वतः ही एक अंतर्विरोध पैदा होता है। औद्योगिक पूंजीपति ज्यादा से ज्यादा अधिशेष कृषि से हासिल करना चाहते हैं जबकि कृषक बुर्जुआ इसका प्रतिरोध करते हैं। बड़ा एकाधिकारी बुर्जुआ होने के चलते और राज्य सत्ता पर नियंत्राण के चलते इसमें जीत हमेशा औद्योगिक बुर्जुआ की ही होती है।

पिछले दो दशकों की उदारीकरण–वैश्वीकरण की नीतियों के काल में ये अंतर्विरोध और ज्यादा मुखर हुए हैं। इसके पहले के चार दशकों में एकाधिकारी बुर्जुआ ने अपनी समग्र जरूरतों के मद्देनजर खेती को एक विशेष दर्जा दे रखा था। इसी ने देहातों के खेतिहर और गैर खेतिहर बुर्जुआ के पैदा होने और फलने–फूलने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

लेकिन जब अपने समग्र हितों के ही मद्देनजर बड़े एकाधिकारी बुर्जुआ ने निजीकरण–उदारीकरण–वैश्वीकरण की नीतियां अपनाई तो इसने किसी हद तक कृषक बुर्जुआ के लिए परेशानी पैदा की। बड़ा एकाधिकारी बुर्जुआ तो औद्योगिक क्षेत्रा में विदेशी प्रतियोगिता के लिए तैयार था। उसने विदेशी एकाधिकारी पूंजी से सहबंध और प्रतियोगिता दोनों का रास्ता अपनाया। तब भी उसके कुछ हिस्सों से 'लेवेल प्लेयिंग फिल्ड' की मांग उठी थी। इसके मुकाबले देहाती कृषक पूंजीपति वर्ग कृषि उत्पादों के क्षेत्रा में विदेशी खिलाड़ियों से प्रतियोगिता के लिए तैयार नहीं था। उसके मुकाबले बहुराष्ट्रीय कृषक उत्पाद व्यापार कंपनियां थी और साथ में थी साम्राज्यवादी देशों की सरकारों द्वारा अपने कृषि उत्पादों पर भारी सब्सिडी। इसने कृषक पूंजीपति वर्ग के लिए परेशानियां पैदा कीं।

हालांकि उदारीकरण की नीति के चलते देश के भीतर कृषि उत्पादों के बेरोक–टोक आवाजाही के चलते कृषक बुर्जुआ को एक हद तक फायदा हुआ था लेकिन इसका ज्यादा लाभ कृषि उत्पाद के व्यापारियों और आढ़तियों ने उठाया था। अब अंतर्राष्ट्रीय बाजार तक पहुंच कृषक बुर्जुआ को ललचा तो रही थी लेकिन इसके खतरे उसके लिए परेशानी भी पैदा कर रहे थे। यह गौरतलब है कि शेतकारी संगठन जैसे कृषक बुर्जुआ के कुछ ही संगठनों ने उदारीकरण–वैश्वीकरण की नीतियों का खुला समर्थन किया था। ज्यादातर ने आशंका के साथ प्रतिरोध ही दर्ज कराया था। यह कृषक बुर्जुआ की अपने लिए सरंक्षण की मांग थी।

पूंजीपति वर्ग की राज्य सत्ता ने एक हद तक इन मांगों पर ध्यान दिया। विश्व व्यापार संगठन में बाद की वार्ताओं में (खासकर दोहा चक्र में) भारत सरकार ने कृषि क्षेत्रा में साम्राज्यवादियों से ज्यादा सख्त सौदेबाजी की हालांकि अन्य क्षेत्रों में बेहतर प्राप्ति की स्थिति में वह पीछे हटने को भी तैयार थी। यह गौरतलब है कि देश के भीतर उदारीकरण–वैश्वीकरण की नीतियों की वकालत करने वाले नीति नियंता देश के बाहर अपने यहां कृषि और उस पर निर्भर आबादी की दुहायी देते रहते हैं। यह उनके लिए सौदेबाजी का एक जरिया होता है।

कृषि क्षेत्रा के सारे संकट के बावजूद कृषक बुर्जुआ ने अपने को नये आर्थिक निजाम के हिसाब से ढाला है। उसने अधिशेष हड़पने और पूंजी संचय के लिए अपने तौर–तरीकों में कुशलता हासिल की है। यह ध्यान रखने की बात है कि खेती के कारोबार में संकट के कारण आत्महत्या करने वालों में कृषक बुर्जुआ नहीं हैं। इसका ठीक उल्टा वे इसका फायदा उठाने वालों में हैं।

जैसा कि पहले कहा गया है कि आज न केवल छोटे किसानों का बड़े पैमाने पर अधिशेष बुर्जुआ वर्ग द्वारा हस्तगत किया जा रहा है बल्कि इसी प्रक्रिया में उसकी छोटी सम्पत्ति का भी हरण किया जा रहा है। यह अधिशेष और सम्पत्ति पूंजीपति वर्ग को स्थानांतरित हो रही है। देहाती बुर्जुआ भले इसमें नलिका का काम करे परन्तु इसका लाभ समस्त पूंजीपति वर्ग उठा रहा है। बड़े एकाधिकारी औद्योगिक बुर्जुआ को भी इसका लाभ मिल रहा है। ठीक इसी कारण ऊपरी दिखावट के बावजूद भारत का शासक बुर्जुआ न केवल देहातों में छोटे किसानों की बढ़ती कंगाली और तबाही से चिंतित नहीं है बल्कि वह इसकी अनिवार्यता को मानकर चल रहा है। किसी हद तक वह इसकी इच्छा भी करता है। इसीलिए छोटे किसानों की कंगाली और तबाही को रोकने के लिए वह कोई प्रयास नहीं कर रहा है। उल्टे वह ऐसी नीतियां जरूर अपना रहा है जिससे यह प्रक्रिया और तेज हो।

भारतीय बुर्जुआ की तेज वृद्धि दर के पीछे यदि मजदूर वर्ग का बेलगाम शोषण है तो इसमें छोटी सम्पत्ति का हरण भी एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। इस तरह देहातों की दरिद्रता पूंजीवाद का कोई उपउत्पाद या निष्क्रिय परिणाम नहीं है। यह आज के पूंजीवादी संचय का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है।

छोटी किसानी व्यवस्था की तबाही के चलते छोटे किसानों का जो सर्वहाराकरण हो रहा है वह भी प्रकारान्तर से पूंजीपति वर्ग के पूंजी संचय में मदद कर रहा है। छोटी किसानी की तबाही के चलते मजदूरों की रिजर्व पातों में जो भरती हो रही है उससे मजदूरों के बीच प्रतियोगिता बढ़ रही है और मजदूरी गिर रही है। बेरोजगारों की फौज के दबाव के चलते पहले से संगठित मजदूरों के संगठन भी

निष्प्रभावी हो रहे हैं। इस सबके कारण पूंजीपति वर्ग का मुनाफा बढ़ रहा है। इस तरह देहातों में छोटी किसानी व्यवस्था की तबाही उद्योगों में पूंजी के संचय में मदद कर रही है।

जैसा कि पहले कहा गया है अब बड़े एकाधिकारी पूंजीपति वर्ग ने अपनी बाकी अर्थव्यवस्था को देश में कृषि में उत्पादन की स्थिति से किसी हद तक विच्छिन्न कर लिया है। अब उद्योग व सेवा क्षेत्रा में वृद्धि दर कृषि वृद्धि दर पर बहुत निर्भर नहीं करती। कृषि में शून्य या ऋणात्मक वृद्धि दर के बावजूद अन्य क्षेत्राों में तेज वृद्धि होती है। स्वयं देहाती पूंजीपति वर्ग छोटी किसानी की तबाही से भरपूर फायदा उठा रहा है और गैर कृषि कारोबार में पांव पसार रहा है। इस सबके चलते देश की लगभग आधी आबादी की खेती पर निर्भरता के बावजूद कृषि देश की समग्र अर्थव्यवस्था में हाशिये पर जा रही है। इसकी दशा या दुर्दशा पूंजीपति वर्ग के लिए बहुत चिंता का कारण नहीं बन रही है। चूंकि पूंजीपति वर्ग का पूंजी संचय इस क्षेत्रा की दशा या दुर्दशा से विच्छिन्न तेज रफ्तार से जारी है इसलिए पूंजीपति वर्ग के लिए चिंतित होने की ऐसी कोई जरूरत भी नहीं है।

पूंजी संचय के लिए चिंता का विषय न होने के बावजूद एक अन्य वजह से कृषि संकट और छोटी किसानी व्यवस्था की तबाही चिंता का सबब जरूर है। देहातों में छोटे किसानों की कंगाली के कारण बहुत भीषण स्तर पर असंतोष संचित हो रहा है। इसी के साथ उद्योगों में मजदूरों की सीमित खपत के कारण बेरोजगारी भी भंयकर रूप से बढ़ रही है। एक ओर यदि मजदूरी को घटाकर यह पूंजी के मुनाफे को बढ़ा रही है तो दूसरी ओर बेरोजगारों के असंतोष को बढ़ा रही है। कंगाल होते छोटे किसानों के लिए तथाकथित स्वरोजगार का रास्ता बचता है जिसका मतलब है अधिकाधिक पैमाने का स्वशोषण। ये सभी भारत की पूंजीवादी व्यवस्था को ध्वस्त करने के लिए विस्फोटक सामग्री इकट्ठा कर रहे हैं।

भारत का पूंजीपति वर्ग इसे जानता है। इसीलिए एक ओर यदि वह कंगालीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहित कर रहा है तो दूसरी ओर राहत के कुछ टुकड़े फेंककर वह बढ़ते असंतोष को ठंडा करने का भी प्रयास कर रहा है। लेकिन दोनों के स्तर में इतना फर्क है कि असंतोष बढ़ता ही जाता है।

V
अंत में

तथाकथित हरित क्रांति के जनकों में से एक भारत के पूंजीपति वर्ग के सुयोग्य प्रतिनिधि एम एस स्वामिनाथन कृषि के वर्तमान संकट के बारे में यह कहते हैं:

> ''... ... ऋण, बीमा तथा आपूर्ति जैसे बीज, खाद (जैविक खाद सहित) और कीटनाशक और बिक्री से संबंधित संस्थागत कारकों में कमी गंभीर होती जा रही है। चुनी हुई स्थानीय संस्थाओं की शक्तिहीनता, सूदखोरों और व्यापारियों का शोषणकारी रुख और लैंगिक भेदभाव जैसे सामाजिक कारक छोटे और सीमांत किसानों तथा भूमिहीन कृषि मजदूरों की हालत खराब कर रहे हैं। इन संस्थागत और सामाजिक सहायकों के ध्वस्त हो जाने को कुछ और चीजें गंभीर बना रही हैं जैसे शोध, शिक्षा और विस्तार (एक्सटेंशन) संस्थानों को देहाती यथार्थ से दूर हो जाना, तेजी से बदलने वाले विभावांतर के साथ अनियमित विद्युत आपूर्ति, जमीन का नष्ट होना, सतह के नीचे के जल का जरूरत से ज्यादा उपयोग तथा लगातार सूखा। कृषि मालों के आयात से संबंधित नीति और आर्थिक उदारीकरण ने आग में घी का काम किया है। कृषि संकट की जड़ें देहाती अर्थव्यवस्था के विध्वंस में है। ज्यादातर सरकारी नीतियों में मूलभूत जीवन यापन को सुनिश्चित करने वाली चिंता का अभाव है। किसानों की तबाही से निपटने के लिए व्यवस्थागत पहुंच का अभाव है। कृषि संकट के विभिन्न हिस्सों से निपटने वाले विभिन्न सरकारी विभागों में कोई संयोजन नहीं है। संपत्ति विहीन बेरोजगारों का पलायन बढ़ रहा है। ज्यादातर मालों के लिए न्यूनतम समर्थन मूल्य मेकेनिज्म काम नहीं कर रहा है। जीविका सुरक्षा व्यवस्था के हर स्तर पर भुखमरी से मुनाफा कमाने की प्रवृत्ति विद्यमान है। देहातों में कुछ बहुत गंभीर रूप से गलत है जिसे **2004** के चुनावों ने दिखाया।... ...'' (**M.S.Swaminathan, From Green to Evergreen Revolution, Academic Foundation, New Delhi, 2010, P-239-40,** अनुवाद हमारा)

लेकिन इसके बाद इस संकट से मुक्ति का रास्ता वे क्या सुझाते हैं? कुछ उपदेश और कुछ छुद्र उपाय। वे कुल मिलाकर वही बताते हैं जो आजकल देहातों में गैर सरकारी संगठन कर रहे हैं। भारत के सुयोग्य कृषि शास्त्राी का इस स्तर पर उतर आना दिखाता है कि भारत के पूंजीपति वर्ग के पास आज कृषि में कोई विकल्प नहीं है। जो है उससे तो उसे फायदा ही हो रहा है भले ही लाखों किसान आत्महत्या करने को मजबूर हो रहे हों।

वर्तमान कृषि संकट का एकमात्रा समाधान समाजवादी समाज में सामूहिक खेती ही है। भारत की खेती की हर गति आज इस ओर चीख–चीख कर इशारा कर रही है। सर्वहारा वर्ग का यही काम बनता है कि वह इसी वास्तविक विकल्प के लिए छोटे किसानों को तैयार करे। वर्तमान पूंजीवादी राज्य सत्ता का खात्मा और सर्वहारा वर्ग की तानाशाही कायम होने से इस प्रक्रिया की शुरुआत होगी।